

### § 9.1 वस्तु-स्वरूप : सामान्य-विशेषात्मक

विश्व में प्रत्येक पदार्थ, प्रत्येक वस्तु — चाहे वह जीव हो या अजीव, चेतन हो या जड़ — सामान्य-विशेषात्मक है। सामान्य और विशेष दोनों ही वस्तु के अंश हैं, उसके गुणधर्म हैं। सामान्य वस्तु की वह मौलिकता, वह स्वभाव है जो कभी नहीं बदलता, जो शाश्वत है, ध्रुव है; जबकि वस्तु की जिस समय जो अवस्था है वही उस वस्तु का उस-समयवर्ती विशेष है। और जैसा कि हम सभी देखते हैं, प्रत्येक पदार्थ की अवस्थाएं, पर्यायें अथवा विशेष प्रतिक्षण बदलते रहते हैं। उदाहरण के लिये, एक बालक किशोर-अवस्था को प्राप्त होता है, फिर कालक्रमानुसार किशोर से युवा, और युवा से वृद्ध होता है। यहां यद्यपि बालक, किशोर आदि अवस्थाएं बदल रही हैं, तथापि इन सभी अवस्थाओं में मनुष्य मनुष्य-रूप-से कायम है। अवस्थाओं या विशेषों के परिवर्तित होते हुए भी उन सब विशेषों में मनुष्यत्व-सामान्य ज्यों-का-त्यों मौजूद है। एक और उदाहरण पर विचार करते हैं — मान लीजिये कि कभी किसी जीव के किसी परपदार्थ का अवलम्बन लेने से (जिसको कि वह अनिष्ट मानता था) द्वेषमय भाव या परिणाम हुए; फिर उस जीव ने अपने उपयोग में किसी ऐसे पदार्थ का अवलम्बन लिया जिसे वह इष्ट मानता था तो द्वेष-भाव का विलय होकर उसकी परिणति रागमय हो गई; तदनन्तर, तत्त्वज्ञान का अवलम्बन लेकर उस जीव ने पुरुषार्थपूर्वक राग-द्वेष का अभाव करते हुए वीतरागता रूप परिणमन किया। परन्तु, इन सब परिवर्तनों के बावजूद आत्मा आत्मा-रूप-से कायम है; रागी-द्वेषी अथवा वीतराग परिणतियों में अपरिवर्तनशील चैतन्य-सामान्य सदा, अनवरत विद्यमान है।

### § 9.2 सामान्यत्व की भांति ही, परिणमन भी वस्तु का निजभाव

जिस प्रकार वस्तु में सामान्य अंश अथवा द्रव्य-स्वभाव लगातार विद्यमान है, उसी प्रकार वस्तु में परिवर्तन भी लगातार होता रहता है। प्रत्येक वस्तु

— चाहे वह जड़ पुद्गल हो या चेतन — प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। ऊपर दिये गए उदाहरण पर बारीकी से पुनर्विचार करें तो कोई युवा किसी दिन अचानक वृद्ध नहीं हो जाता, अपितु वह प्रतिक्षण वृद्ध हो रहा होता है। परन्तु, सूक्ष्म परिवर्तन, प्रतिसमय होने वाला बदलाव, हमारी इन्द्रियों/मन/बुद्धि की पकड़ में नहीं आता — स्थूल परिवर्तन को ही हम ग्रहण कर पाते हैं, जान पाते हैं।

इस प्रकार, सामान्यत्व की भांति ही परिणमन भी वस्तु का निज-भाव है, वस्तु का स्व-तत्त्व है। परिणमन के विषय में यह अनिवार्यता भी ध्यान देने योग्य है कि पुद्गल का पुद्गल-रूप ही परिणमन होगा और जीव का जीव-रूप ही परिणमन होगा। आशय यह है कि पुद्गलद्रव्य का परिणमन कभी पुद्गलत्व का — पुद्गल-स्वभाव का — अतिक्रमण नहीं कर सकता और चेतनद्रव्य का परिणमन कभी चैतन्य का, चेतन-स्वभाव का अतिक्रमण नहीं कर सकता।

### § १.३ वस्तु का एक अंश नय का विषय, जबकि सम्पूर्ण वस्तु प्रमाण का विषय

सामान्य और विशेष एक ही वस्तु के गुणधर्म होते हुए भी भिन्न-भिन्न लक्षण वाले हैं। सामान्य अपरिवर्तनीय या अविनाशी है, जबकि विशेष परिवर्तनशील या नाशवान है — उसकी उत्पत्ति भी होती है और नाश भी। सामान्य एक है, जबकि एक क्षण उत्पन्न और दूसरे क्षण व्यय होने वाले विशेष अनेकानेक हैं। सामान्य और विशेष में उक्त प्रकार से यद्यपि लक्षणभेद है, फिर भी वे सत्ता की अपेक्षा अभिन्न हैं — उनको एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। अथवा, ऐसे कह सकते हैं कि सिर्फ सामान्य या सिर्फ विशेष का होना असंभव है — वस्तु के अस्तित्व में, सामान्य-रहित विशेष नहीं हो सकता और विशेष-रहित सामान्य भी नहीं हो सकता। फिर भी, सामान्य विशेष-रूप नहीं होता, और न ही विशेष सामान्य-रूप होता है। वस्तु का सामान्य अंश जहां, एक ओर, द्रव्यार्थिक नय या द्रव्यदृष्टि का विषय है, वहीं, दूसरी ओर, वस्तु की लगातार

बदलती अवस्थाएं, पर्यायें या विशेष पर्यायार्थिक नय या पर्यायदृष्टि के विषय हैं। इस प्रकार, ये दोनों ही प्रतिपक्षी नय अथवा दृष्टियां वस्तु के सामान्य और विशेष, इन सम्पूरक (complementary) अंशों में से किसी एक को — *इसको* या *उसको* — लक्ष्य करती हैं। जबकि, *प्रमाण* (जो कि इस या उस नय अथवा दृष्टि के पक्ष से रहित होता है) *सम्पूर्ण वस्तु को* — *सामान्य-विशेषात्मक अथवा द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु को* — लक्ष्य करता है; प्रमाण का विषय सम्पूर्ण अथवा सर्वदेश वस्तु है, आंशिक वस्तु नहीं। और, हम सभी जानते हैं कि *प्रमाण ही सम्यग्ज्ञान है।*

### § १.४ वस्तु के अस्तित्व में सामान्य और विशेष अंशों का

अभेद — भेद केवल नयावलम्बी ज्ञान की अपेक्षा

वस्तु चूंकि सामान्य-विशेषात्मक है, इसलिये सम्पूर्ण वस्तु का — सामान्य और विशेष, दोनों पक्षों का — एक-साथ कथन किया जाना संभव नहीं है। एक पक्ष के कथन के बाद ही, दूसरे पक्ष का — प्रतिपक्ष का — कथन संभव है। इस प्रकार, यद्यपि सामान्य और विशेष का कथन अलग-अलग अथवा पहले-पीछे किया जाता है, तथापि वस्तु के अस्तित्व में सामान्य और विशेष, ये सम्पूरक अंश कहीं अलग-अलग अथवा पहले-पीछे नहीं हैं। वस्तु के अस्तित्व अथवा सत्ता में सामान्य और विशेष अंशों का न तो प्रदेश-भेद है और न ही समय-भेद। यद्यपि दो प्रतिपक्षी दृष्टियों के विषयभूत इन वस्तु-अंशों का ज्ञान अलग-अलग किया जाना संभव है (क्योंकि दोनों के स्वरूप अलग-अलग हैं), तो भी *सामान्य और विशेष को अस्तित्व की अपेक्षा अलग-अलग नहीं किया जा सकता — दोनों एक-समय हैं, एक-साथ हैं, और एक के बिना दूसरे वस्तु-अंश का अस्तित्व संभव नहीं है।* वस्तुतः एक-के-बाद-एक होने वाले विभिन्न विशेषों में जो सातत्य (continuity), निरंतरता, एकता या समानता का भाव है, वही सामान्य है। जैसे मोतियों के हार में एक डोरा उसमें पिरोए गए अनेकानेक मोतियों में — सभी मोतियों में — निरंतर एक-रूप-से

मौजूद होता है, उसी प्रकार वस्तु का सामान्य उसके सभी विशेषों में निरंतर एक-रूप-से विद्यमान वस्तु का स्वभाव है। यहां, दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में अन्तर भी उल्लेखनीय है। हार में सारे मोती एक साथ मौजूद हैं, जबकि वस्तु में विशेष एक-के-बाद-एक घटित हो रहे हैं — प्रत्येक विशेष एक-समयवर्ती है और सामान्य त्रिकालवर्ती। पुनश्च, डोरे और मोतियों की तरह, सामान्य और विशेषों के बीच प्रदेश-भेद भी नहीं है, जिसका खुलासा ऊपर किया ही जा चुका है।

### § १.५ प्रतिपक्षी नय से सापेक्ष दृष्टि ही सम्यक् जबकि निरपेक्ष दृष्टि मिथ्या

साधक को लक्ष्य करके प्रयोजनवत् । जब आत्म-वस्तु के स्वरूप का कथन किया जाता है तब "वस्तु का जो सामान्य-अंश । या सामान्यत्व है वह निश्चय है, क्योंकि वह त्रिकाल एकरूपसे रहने वाला है; और वस्तु का जो विशेष-अंश । या विशेषत्व है वह व्यवहार है, क्योंकि वह प्रतिसमय बदलने वाला है" — ऐसा कहा जाता है। तथापि, वस्तु के अस्तित्व में तो न कोई पक्ष मुख्य है, न कोई पक्ष गौण। तत्त्व के जिज्ञासु को इस प्रकार, सर्वप्रथम, दोनों प्रतिपक्षी दृष्टियों से अविरुद्ध वस्तु-स्वरूप का सम्यक् निर्णय करना चाहिये। आत्म-वस्तु के मात्र सामान्य अंश का अथवा मात्र विशेष अंश का ज्ञान और श्रद्धान कभी भी सम्पूर्ण वस्तु का ज्ञान-श्रद्धान नहीं हो सकता। सामान्य का ज्ञान वस्तुतः विशेष के ज्ञान बिना अधूरा है, सम्यक् नहीं है; और, इसी प्रकार, विशेष का ज्ञान भी सामान्य के ज्ञान बिना अधूरा है, सम्यक् नहीं है। दोनों ही अलग-अलग, अर्थात् एक-दूसरे से निरपेक्ष होकर सही/सम्यक् नहीं हो सकते। द्रव्यदृष्टि के विषयभूत वस्तु-अंश के ज्ञान बिना पर्यायदृष्टि के विषय का ज्ञान मिथ्या है — ऐसा ज्ञान अथवा उसका स्वामी जीव 'पर्यायमूढ़' है। इसी प्रकार, पर्यायदृष्टि के विषयभूत वस्तु-अंश के ज्ञान बिना द्रव्यदृष्टि के विषय का ज्ञान मिथ्या है — ऐसा ज्ञान अथवा उसका स्वामी जीव 'द्रव्यमूढ़' है।

## § १.६ वक्ता की विवक्षा के अनुसार ही दृष्टियों का निश्चयत्व—व्यवहारत्व अथवा मुख्यता—गौणता

वस्तु—स्वरूप का एक पक्ष द्रव्य—स्वभाव या सामान्य है, तो दूसरा पक्ष उस वस्तु की परिणति/पर्याय या विशेष है। फिर भी, सम्पूर्ण वस्तु एक ही है। उस वस्तु—स्वरूप का वर्णन करते हुए वक्ता चूंकि दोनों पक्षों को एक साथ कहने में असमर्थ है, इसलिये वह किसी एक पक्ष को लक्ष्य करने वाली दृष्टि को मुख्य करके कथन करता है, जिससे प्रतिपक्षी दृष्टि स्वतः ही गौण हो जाती है। जिस प्रकार, दही को मथने वाली गोपिका जब मथानी पर लिपटी रस्सी के एक सिरे को अपनी ओर खींचती है तो उसका दूसरा सिरा स्वतः ही दूर चला जाता है; उसी प्रकार, वस्तु—स्वरूप का चिंतवन या प्रतिपादन करते समय वस्तुरूपी रस्सी का जो पक्षरूपी सिरा अपनी ओर खींचा जाता है — अर्थात् मुख्य किया जाता है — वह निश्चय कहलाता है। और, उसी वस्तुरूपी रस्सी का दूर चला जाने वाला सिरा — अर्थात् गौण कर दिया गया पक्ष — व्यवहार कहलाता है। वस्तु के अस्तित्व में निश्चय या व्यवहार नामक कोई पक्ष नहीं हैं — वस्तु की सत्ता में प्रतिपक्षी वस्तु—अंशों पर 'निश्चय' और 'व्यवहार' नाम के कोई लेबल (labels) नहीं लगे हैं। हमारे सापेक्ष कथन में मुख्य किये गए वस्तु—अंश को निश्चय भी कहा जाता है और गौण किये गए वस्तु—अंश को व्यवहार भी कहा जाता है। ये दो वस्तु—अंश, दो प्रतिपक्षी नयों या दृष्टियों के विषय बनते हैं, जबकि दोनों नयों/दृष्टियों से अविरुद्ध वस्तु—स्वरूप प्रमाण का — सम्यग्ज्ञान का — विषय है।

## § १.७ सम्यग्दर्शन : क्या मात्र द्रव्यदृष्टि के विषय का श्रद्धान?

इस प्रकार, वस्तु—स्वरूप का स्पष्ट, संदेह—रहित, युक्तियुक्त एवं आगमानुकूल विवेचन—विश्लेषण करने पर हमें सहज ही समझ में आता है कि आत्म—वस्तु के मात्र सामान्य अंश का श्रद्धान कदापि सम्यग्दर्शन नहीं

हो सकता — क्योंकि ऐसा श्रद्धान तो एकान्त मिथ्यात्व होगा। सम्यग्दर्शन तो तब होता है जब सम्पूर्ण आत्म-वस्तु का, जैसी वस्तु है — सामान्य-विशेषात्मक अथवा द्रव्य-पर्यायात्मक — उसका वैसा ही, सही, सच्चा, सम्यक् श्रद्धान हो; जहां साधक दोनों दृष्टियों के विषय को आत्म-वस्तु के अस्तित्व में एक साथ देखता हो; जहां पर न कोई एक वस्तु-अंश मुख्य हो और न दूसरा वस्तु-अंश गौण, न कोई निश्चय हो और न कोई व्यवहार; जहां नयों का, दृष्टियों का पक्षपात नहीं रह गया हो।

### § १.८ एकान्तमूढ़ जीव को प्रतिपक्षी दृष्टि के

सम्यक् एकान्त द्वारा वस्तु-स्वरूप

ग्रहण कराने का आचार्य का प्रयास

वस्तु तो जैसी है, वैसी ही है। देखने वाले की दृष्टि वस्तु-स्वरूप में तो कुछ परिवर्तन ला नहीं सकती। हां, यदि वह अपनी दृष्टि सही कर ले तो उसे वस्तु-स्वरूप की सम्यक् प्राप्ति अवश्य हो सकती है। जहां श्रोता पर्यायमूढ़ है, वहां द्रव्यदृष्टि की मुख्यता से कथन करके — सम्यक् एकान्त के द्वारा उसे द्रव्यदृष्टि के विषयभूत वस्तु-अंश का ज्ञान कराया जाता है (ज्ञातव्य है कि प्रतिपक्षी दृष्टि को गौण किन्तु जीवित रखते हुए, विवक्षित दृष्टि की मुख्यता से किया गया कथन सम्यक् एकान्त कहलाता है)। सम्बोधित करने की इस विधि के अनुसार ही, आचार्य उस पर्यायमूढ़ को कहते हैं कि हे जीव! यदि तू इस द्रव्यदृष्टि के विषयभूत आत्म-वस्तु का श्रद्धान कर ले तो तेरा पर्यायदृष्टि-विषयक श्रद्धान, जो वर्तमान में मिथ्या है, तब सम्यक्त्व को प्राप्त हो जाएगा अर्थात् तुझे द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु का सही श्रद्धान हो जाएगा। इसके ठीक विपरीत, द्रव्यदृष्टि की एकान्त मान्यता रखने वाला, द्रव्यमूढ़, कोई जीव यदि है तो उसे सम्बोधित करते हुए आचार्य कहेंगे कि हे जीव! यदि तू पर्यायदृष्टि के विषयभूत आत्म-वस्तु का श्रद्धान कर ले तो तेरा द्रव्यदृष्टि-विषयक श्रद्धान, जो वर्तमान में मिथ्या है, सही होकर, द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु का सम्यक् श्रद्धान तुझे हो जाएगा।

जहां कहीं भी शास्त्रों में भगवान् आचार्यों द्वारा कहा गया है कि द्रव्यदृष्टि के विषय का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है, वहां निश्चित रूप से, निस्सन्देह यह समझना चाहिये कि यह कथन पर्यायमूढ जीवों को लक्ष्य करके कहा गया है, कि यह सापेक्ष कथन है — किसी अपेक्षा-विशेष से ऐसा कहा गया है। जो जीव पर्यायमूढ थे, अथवा हैं, उन्हें द्रव्यदृष्टि के सम्यक् एकान्त द्वारा उस दृष्टि के विषयभूत वस्तु-अंश (अर्थात् आत्म-स्वभाव) के श्रद्धान का उपदेश दिया गया है। यह कथन प्रतिपक्षी नय से निरपेक्ष नहीं है अपितु पर्यायदृष्टि की सापेक्षता को लिये हुए है — आचार्यों का ऐसा सम्यक् अभिप्राय समझना चाहिये।

### § १.६ पर्यायदृष्टि-विषयक मिथ्या श्रद्धान का स्वरूप और उसका सम्यक् श्रद्धान से गंभीर अंतर

अब विचार करना है कि मात्र पर्यायदृष्टि-विषयक श्रद्धान — प्रतिपक्षी दृष्टि (द्रव्यदृष्टि) से निरपेक्ष श्रद्धान — जिसे पर्यायमूढता कहा जाता है, वह कैसा होता है; और, दूसरी ओर, पर्यायदृष्टि के विषय का सम्यक् श्रद्धान — द्रव्यदृष्टि-सापेक्ष श्रद्धान — कैसा होता है। पर्यायमूढ जीव को :

- (क) शरीर व आत्मा एकरूप अर्थात् शरीर ही आत्म-रूप, स्वयं-रूप दिखाई देता है;
- (ख) राग-द्वेष आदि भाव अपने स्वभाव दिखाई देते हैं;
- (ग) द्रव्यकर्म के साथ वह अपना कर्ता-कर्म सम्बन्ध समझता/मानता है;
- (घ) बाहरी स्थितियों में (जिनके लिये यह जीव वस्तुतः मात्र निमित्त होता है), कर्तृत्व-बुद्धि करके वह अहंकार कर लेता है। संयोगजन्य स्थितियों में उसकी स्वामित्व-बुद्धि या एकत्व-बुद्धि उस अहंकार को और भी पुष्ट करती

है।

जब ऐसा जीव — पर्यायमूढ़ जीव — तत्त्वज्ञान और भेदविज्ञान की निरंतर भावना के द्वारा द्रव्यदृष्टि—विषयक सही/सम्यक् श्रद्धान को प्राप्त करता है, तब उसे पर्याय में :

- (क) शरीर और आत्मा के बीच एकत्व के बजाय संयोग—सम्बन्ध दिखाई देता है;
- (ख) रागादि भाव स्वभाव के बजाय विकारी भाव — जैसे भारीर के स्तर पर रोग एक स्वस्थता—विरोधी विकार दिखाई देता है, उसी प्रकार आत्मद्रव्य के रोगवत् — दिखाई देते हैं;
- (ग) द्रव्यकर्म और आत्मा के बीच कर्ता—कर्म सम्बन्ध के बजाय अब निमित्त—नैमित्तिक सम्बन्ध समझता है;
- (घ) बाहरी स्थितियां अब उसे कर्मजनित, पर—संयोग रूप नज़र आती हैं, उनमें मिथ्या कर्तृत्व/स्वामित्व—बुद्धि का उसके अब अभाव हो जाता है।

यह पर्यायदृष्टि—विषयक सही श्रद्धान है, जो द्रव्यदृष्टि के विषय का अर्थात् आत्म—स्वभाव का सही श्रद्धान होने पर ही होता है। जब तक द्रव्यदृष्टि के विषय का सही श्रद्धान नहीं होता, तब तक पर्यायदृष्टि का विषय ही अज्ञानी, पर्यायमूढ़ जीव को द्रव्यदृष्टि—के—विषयवत् दिखाई पड़ता है। आत्मा का अपने ज्ञान—दर्शन गुणों के साथ वस्तुतः जैसा एकत्व या तादात्म्य है, वैसा एकत्व या तादात्म्य यह अज्ञानी जीव शरीर और रागादिक के साथ अनुभव करता है। तथा, आत्मा का जैसा कर्ता—कर्म सम्बन्ध वस्तुतः अपने ज्ञान—दर्शन गुणों के साथ है, वैसा कर्ता—कर्म सम्बन्ध यह जीव द्रव्यकर्म के साथ मानता है। इसीलिये कहा जाता है कि अज्ञानी, पर्यायमूढ़ जीव के लिये पर्यायदृष्टि का विषय द्रव्यदृष्टि के विषय का स्थान अथवा स्तर (status) ग्रहण कर लेता है।



इस प्रकार, पर्यायमूढ़ जीव की अज्ञानता के मूल कारण का विश्लेषण (analysis) कर लेने पर उसका निदान भी सहज ही सूझता है। तर्कसंगत बात है कि द्रव्यदृष्टि के विषय का सही ज्ञान यदि ऐसे जीव को हो जाए तो उसके पर्यायदृष्टि-विषयक ज्ञान ने जिस स्थान पर कब्ज़ा कर रखा था, वह स्थान या स्तर उसे द्रव्यदृष्टि-विषयक ज्ञान के लिये खाली करना पड़ेगा; और तब वह (पर्यायदृष्टि-विषयक ज्ञान) अपना उचित स्थान या स्तर — द्रव्यदृष्टि-सापेक्ष स्तर — ग्रहण करके सम्यक्त्व को प्राप्त हो जाएगा।

## § १.१० द्रव्यदृष्टि-विषयक

### मिथ्या श्रद्धान का स्वरूप

दूसरी ओर, जो जीव द्रव्यदृष्टि का एकान्त पकड़े हुए है — पर्यायदृष्टि से निरपेक्ष द्रव्यदृष्टि-विषयक अपने ज्ञान को सम्यक् मान रहा है — उसकी स्थिति का विचार करते हैं। ऐसा जीव पर्यायदृष्टि के विषयभूत वस्तु-अंश को अभूतार्थ-असत्यार्थ मानता है, अथवा उसे 'यह तो व्यवहार है, कहने मात्र है; ऐसा है नहीं' इत्यादि प्रकार से मान कर उसकी सत्यार्थता को अपने अंतरंग में स्वीकार नहीं करता। पर्यायें अथवा अवस्थाएं भी आत्म-वस्तु के निजभाव हैं, स्व-तत्त्व हैं, इस सत्य को ऐसा अज्ञानी जीव मंजूर नहीं करता। नतीज़ा यह होता है कि राग-द्वेषादिक भावों/परिणामों के अपनी आत्मा के अस्तित्व में होते हुए भी यह स्वयं को उनसे रहित मानता है। शरीर का आत्मा के साथ संयोग होते हुए भी यह उस संयोग को मंजूर नहीं करता। पुनश्च, द्रव्यकर्म के साथ आत्मा का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होते हुए भी उस सम्बन्ध का अभाव मानने लगता है। ऐसी मान्यताओं के फलस्वरूप, परमार्थ की प्राप्ति तो इसे होती नहीं, इसका व्यवहार-आचरण भी अनर्गल हो जाता है; यह स्वच्छन्द, स्वेच्छानुसारी प्रवृत्ति करने लगता है। अपना ज्ञाता-द्रष्टा स्वरूप तो इसकी पकड़ में आया नहीं, तो भी अपनी मान्यता में राग-द्वेषादिक भावों का अकर्ता बनता है; जो रागादिक शुभ-अशुभ भाव वस्तुतः इसकी आत्मा

में होते हैं, उनके अस्तित्व को इसलिये स्वीकार नहीं करता कि 'उनका कर्ता बनने से मिथ्यादृष्टि हो जाऊंगा।' इस प्रकार, रागादिक का अकर्ता बनता है और शरीर की क्रिया को जड़ की क्रिया मानता है। नतीजा यह होता है कि अन्याय/अनाचार—रूप प्रवृत्ति करते हुए इसे कोई डर नहीं रहता। शरीराश्रित क्रियाएं जड़ की ही क्रियाएं हैं — यह बात सत्य है; परन्तु यह भी तो सत्य है कि आत्मा में राग—द्वेषादिक भावों के होने पर ही ये (शरीराश्रित) क्रियाएं होती हैं — उनमें परस्पर निमित्त—नैमित्तिक सम्बन्ध जो ठहरा। 'उन रागादिक भावों का मैं ही जिम्मेवार हूं और उनका फल मुझे ही भोगना पड़ेगा' — पर्यायदृष्टि—विषयक इस सत्य को यह अज्ञानी स्वीकार नहीं करता। इस प्रकार, द्रव्यदृष्टि का एकान्त एक मीठा ज़हर है — विषयभोगों की चाह मिटी नहीं, उनकी मिठास मिटी नहीं, परन्तु यह ऊपर से धर्म का, सम्यक्त्व का आवरण ओढ़ लेता है।

## § 9.99 समयसार में दिये गए

### उपदेशों का सम्यक् अभिप्राय

उपर्युक्त दोनों ही प्रकार की मिथ्या एकान्त दृष्टियों से हमें स्वयं को बचाना है। हमारे संसर्ग में भी यदि कोई जिज्ञासु आए तो उसे सही उपदेश दें, जिससे उसका अज्ञान—अंधकार दूर हो सके — ऐसा हमारा अभिप्राय होना चाहिये। इसी अभिप्राय—पूर्वक, लोक में पर्यायमूढ़ जीवों की बहुलता देखकर भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार ग्रन्थ की रचना की। द्रव्यदृष्टि—विषयक एकान्त मान्यता तो यह जीव किसी दूसरे का उपदेश पाकर ही बनाता है — कारण या तो यह हो सकता है कि आर्ष आचार्यों के कथन का अभिप्राय या मर्म इसने नहीं समझा, अथवा यह कि जिस किसी व्यक्ति के माध्यम से इसने उपदेश ग्रहण किया, वहीं पर कोई भूल रही हो। दूसरी ओर, पर्यायदृष्टिविषयक एकान्त तो इस जीव के, बिना किसी दूसरे के उपदेश के, जन्म—जन्मान्तर से चला ही आ रहा है। पर्यायदृष्टि के एकान्ती जीव की यह एकान्त मान्यता कैसे मिटे? उसे सम्बोधित करने के लिये भगवान् आचार्य ने द्रव्यदृष्टि की मुख्यता से

(द्रव्यदृष्टि को निश्चय कह कर), पर्यायदृष्टि को गौण करते हुए (उसे व्यवहार कह कर) उपदेश दिया है। पर्यायदृष्टि—विषयक वस्तु—अंश को वहां अभूतार्थ—असत्यार्थ भी कहा है, क्योंकि द्रव्यदृष्टि के विषय के अन्तर्गत उसका (पर्यायदृष्टि—विषयक वस्तु—अंश का) अभाव है ही। दूसरी ओर, द्रव्यदृष्टि के विषय को वहां भूतार्थ कहा है। इस कथन का अभिप्राय ऐसा नहीं समझना चाहिये कि वस्तु की सत्ता में पर्यायदृष्टि अथवा उसके विषय का अस्तित्व ही नहीं है। बल्कि यह समझना चाहिये कि द्रव्यदृष्टि जिस विषय (वस्तु—अंश) को लक्ष्य करती है, उस वस्तु—अंश में पर्यायदृष्टि का विषय नहीं है, हालाँकि वस्तु तो द्रव्य—पर्यायात्मक ही है।

अतः जहाँ आचार्य कहते हैं कि द्रव्यदृष्टि से आत्मा का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है, वहाँ उनका अभिप्राय ऐसा समझना चाहिये कि यद्यपि मात्र द्रव्यदृष्टि के विषय का श्रद्धान सम्यक्त्व नहीं है, तथापि द्रव्यदृष्टि के अनुसार आत्म—वस्तु के स्वरूप का श्रद्धान करने से, वर्तमान में पर्यायदृष्टि—विषयक जो अनादिकालीन, मिथ्या, एकान्त श्रद्धान इस जीव के चल रहा है, वह मिट कर, द्रव्य—पर्यायात्मक वस्तु का सही श्रद्धान हो जाएगा — सो ही सम्यक्त्व है। जब आचार्य कहते हैं कि आत्मा रागादिक भावों का कर्ता नहीं है तो इसका अर्थ समझना चाहिये कि द्रव्यदृष्टि से आत्मा को रागादिक का कर्ता मानने से रागादिक भाव, जीव के ज्ञान—दर्शन गुणों की भांति ही, आत्मा के स्वभाव ठहर जाएंगे। और, यदि रागादिक को अपना स्वभाव इस जीव ने मान लिया तो यह उनका कभी अभाव नहीं कर सकेगा।

द्रव्यदृष्टि के अनुसार जब जीव और रागादिक भावों की उक्त स्थिति है, तभी — उसी समय — पर्यायदृष्टि से देखने पर यह जीव स्वयं ही रागादिक का कर्ता है। इन विकारी भावों के आत्मा के अस्तित्व में होने की पूरी ज़िम्मेवारी इस आत्मा की है — न केवल इन्हें करने की, बल्कि इन्हें मिटाने की ज़िम्मेवारी भी इसी की है। पर्यायमूढ़ जीव स्वयं को रागादिक का कर्ता द्रव्यदृष्टिवत् मानता है, इसलिये अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि है। इसी प्रकार, द्रव्यमूढ़ जीव, जो पर्यायदृष्टि से भी स्वयं को रागादिक का कर्ता अथवा ज़िम्मेवार नहीं मानता, वह भी उतना ही अज्ञानी है,

मिथ्यादृष्टि है — क्योंकि आत्म-वस्तु के परिणमन को ही उसने स्वीकार नहीं किया। समयसार का यह कथन कि 'हे जीव, तू रागादि का कर्ता नहीं है,' द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा से किया गया है, किन्तु हे द्रव्यमूढ़! तूने तो पर्यायदृष्टि की अपेक्षा भी रागादि के कर्तृत्व का निषेध कर दिया!! द्रव्यदृष्टि के विषय का सही ज्ञान होने से, पर्याय में हो रहे कार्यों का अहंकार नहीं होगा, परन्तु इसका अर्थ यह तो नहीं कि पर्याय का अस्तित्व ही मिट जाएगा। आत्मा और शरीर की क्रियाओं के बीच कर्ता-कर्म सम्बन्ध का निषेध इसलिये किया गया था कि दो भिन्न द्रव्यों के बीच एकत्व की मान्यता इस जीव के अंतरंग में कहीं अब भी बनी न रह जाए, क्योंकि ऐसा होना मिथ्यात्व है। परन्तु, तूने तो उनके बीच निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के अस्तित्व को मानने से भी इंकार कर दिया! जिस प्रकार निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को कर्ता-कर्म सम्बन्धवत् मानना मिथ्यात्व है, उसी प्रकार निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के होते हुए, उसे न मानना, स्वीकार न करना भी तो मिथ्यात्व है! इस विषय में सम्यक् मान्यता तो यह होनी चाहिये कि यद्यपि मैं शरीर की परिणतियों का, क्रियाओं का उपादान नहीं हूँ, तथापि मेरे शुभ-अशुभ परिणामों के होने पर ही शारीरिक अथवा वाचनिक क्रियाएं होती हैं; इसलिये मैं अपने उन रागादिक परिणामों के लिये जिम्मेवार हूँ, और वे मेरे विकार हैं, मेरी गलतियां हैं।

## § १.१२ सम्यग्दर्शन : नयपक्षातीत,

### प्रमाणभूत आत्म-वस्तु का श्रद्धान

पण्डितप्रवर टोडरमल्ल जी ने *मोक्षमार्ग-प्रकाशक* के सातवें अधिकार में, 'निश्चयाभासी' प्रकरण के अन्तर्गत लिखा है कि जो व्यक्ति रागादिक को परकृत ही मानकर, स्वयं को निरुद्यमी और प्रमादी बनाते हुए, कर्म का ही दोष ठहराता है, उसे 'रागादिक का उपादान स्वयं आत्मा है, अतः रागादिक आत्मा के हैं — इस प्रकार उपादान कारण की मुख्यता से कथन करके — सम्यक् श्रद्धान के सम्मुख कराया है। यह एक सापेक्ष कथन है जो कि द्रव्यदृष्टि के एकांतावलम्बी को लक्ष्य करके किया गया

है। उस द्रव्यमूढ़ को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि राग-द्वेषादिक रूप से परिणमन किसी और का नहीं, तेरा ही है; ये राग-द्वेष तुझ आत्मा के अस्तित्व में ही हो रहे हैं तथा इनके होने का और इनका अभाव करने का — दोनों ही कार्यों का — उत्तरदायित्व तेरा, और मात्र तेरा ही है।

दूसरी ओर, जो व्यक्ति रागादिक को अपना स्वभाव मानकर उनके अभाव के हेतु उद्यम करने को उत्सुक नहीं होता, उसे 'रागादिक आत्मा के स्वभाव नहीं हैं, वे तो परभाव हैं, परकृत अर्थात् कर्मकृत परिणाम हैं'

— इस प्रकार निमित्त कारण की मुख्यता से कथन करके — सम्यक् श्रद्धान के सम्मुख कराया है। यह भी सापेक्ष कथन है जो कि पर्यायदृष्टि के एकांतावलम्बी को लक्ष्य करके किया गया है। उस पर्यायमूढ़ को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि द्रव्यदृष्टि की विषयभूत वस्तु अर्थात् आत्मस्वभाव भूतार्थ है, अतः उसका श्रद्धान करने से ही सम्यग्दर्शन होगा।

इसी सन्दर्भ में पण्डित जी आगे लिखते हैं कि उक्त 'दोनों विपरीत श्रद्धानों से रहित होने पर ही सत्य श्रद्धान होगा।' आशय यह है कि ये रागद्वेषादिक भाव आत्मा के स्वभाव-भाव नहीं हैं — आत्मा का स्वभाव-भाव तो नित्य-शुद्ध ज्ञान-दर्शनात्मक चैतन्य है। तो भी, अनादिकालीन कर्म-सम्बन्ध के निमित्त से यह आत्मा रागद्वेषरूप विकारी परिणमन करते हुए अशुद्ध हो रहा है; अतः ये रागादिक आत्मा के अस्तित्व में विभाव-पर्याय रूप से उत्पन्न होते हैं। 'अब इस आकुलताजनक, दुःखरूप, विकारी परिणमन का अभाव करके मुझे अपनी आत्मा को शुद्ध बनाना है, और मैं यह अवश्य कर सकता हूँ, क्योंकि ऐसा परिणमन मेरा स्वभाव नहीं है' — जब इस प्रकार द्रव्यपर्यायात्मक या सामान्यविशेषात्मक आत्म-वस्तु का निर्णय होगा तब सम्यग्दर्शन की उपयुक्त भूमिका बनेगी।

आगम में जीव-अजीवादि सात तत्त्वों के ज्ञान के द्वारा भी तत्त्वजिज्ञासुओं को सामान्यविशेषात्मक वस्तुस्वरूप के निर्णय की ओर ही अग्रसर किया गया है। वहाँ आस्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्ष, ये पाँच तत्त्व तो स्पष्टतः ही वस्तु-विशेष हैं — भावास्रव-बन्ध आदि तो

जीववस्तु—विशेष हैं तथा द्रव्यास्रव—बन्ध आदि पुद्गलवस्तु—विशेष हैं। जबकि जीव व अजीव, ये दो तत्त्व, क्रमशः जीव/आत्मवस्तु—सामान्य और पुद्गलवस्तु—सामान्य के द्योतक हैं।

इस प्रकार, सर्वप्रथम आगम के माध्यम से प्रमाणभूत वस्तु की जानकारी करनी है, निर्णयात्मक ज्ञान करना है — यह सामान्यज्ञान कहलाता है। अब निज—वस्तु की तीव्ररुचिपूर्वक अपने उपयोग को पर—वस्तुओं से हटाकर स्व—सम्मुख करते हुए आत्म—वस्तु को उसीरूप देखना है, अनुभवन करना है। जैसा कि ज्ञान के द्वारा निर्णय किया था, वैसी ही प्रमाणभूत — द्रव्यपर्यायात्मक/ सामान्यविशेषात्मक — निज—वस्तु जब अनुभव में आ जाती है, तब सही/सम्यक् श्रद्धान घटित होता है। सही श्रद्धा होने पर वह पहले वाला सामान्यज्ञान ही अब सम्यग्ज्ञान नाम पाता है।

तदनन्तर, जब आत्मा अपने उपयोग को परवस्तुओं से हटाकर (उसके हेतु परपदार्थों का आश्रय/अवलम्ब छोड़कर, अर्थात् स्वावलम्बी होते हुए) निजोपयोग को स्व—सम्मुख करते हुए पुनः पुनः निजानुभवन में उतरता है, तब इसके रागरूप परिणमन का क्रमशः अभाव होने से द्रव्यकर्मादयरूपी निमित्त का भी क्रमशः अभाव होने लगता है। अन्ततः रागद्वेष का समूल नाश होने पर केवल स्वभाव—भाव रह जाता है; अतः उक्त रीति से रागादि के नाश के हेतु सम्यक् उद्यम करना ही समीचीन मोक्षमार्ग है।

### § 9.9३ अध्यात्म और चरणानुयोग की मैत्री अथवा एकता

‘पर—वस्तु तो पर ही है, वह कभी हमारी हो नहीं सकती’ यद्यपि यह कथन सत्य है, तथापि जब तक पर के साथ इस जीव का सम्पर्क है, तब तक उस वस्तु का अवलम्बन लेकर यह जीव विकल्प उठाया करता है। कर्मबन्ध भी परवस्तु के कारण नहीं होता, बल्कि अपने विकल्पों के कारण ही होता है। जीव को दुःख—सुख भी अपने विकल्पों से ही होते हैं। परन्तु, विकल्प चूँकि परवस्तु का आश्रय लेकर ही होते हैं, अतः विकल्पों

के त्याग के हेतु, परवस्तु का प्रतिज्ञापूर्वक त्याग किया जाना ज़रूरी है। किसी-किसी साधक के दोनों कार्य — बहिरंग में परपदार्थों के अवलम्बन का त्याग और अंतरंग में विकल्पों का त्याग अर्थात् अभाव — लगभग एक-साथ भी हो जाते हों, परन्तु अधिकांशतः पर-वस्तु का प्रतिज्ञापूर्वक त्याग किये जाने के बाद ही तत्संबंधी विकल्प का त्याग घटित होता है। बाहरी त्याग के बाद, आगे चल कर, जब उस जाति का विकल्प वहाँ उत्पन्न नहीं होता, तब वह त्याग सहज हो जाता है। इसका अर्थ यह है कि अब वह पर-सम्बन्धी आदत छूट गई है। जो लोग पुण्य-पाप के उदय-जनित सामग्री को सुख-दुःख का कारण मानते थे और इस वजह से उस सामग्री से राग-द्वेष करते थे — उस संबंधी विकल्प उठाते रहते थे — उनको उक्त प्रकार से तत्त्व समझा कर, तथा उन लोगों का दोष बता कर उन्हें विकल्प तोड़ने का उपदेश दिया गया। उससे यदि कोई ऐसा अभिप्राय ग्रहण कर ले कि 'परिग्रह रहे तो रहे, यह तो पर है ही, इसका त्याग क्या करना?' तो समझना चाहिये कि ऐसे जीव की न तो परिग्रह में रुचि छूटी है और न ही उसके विकल्पों के छूटने की कोई सम्भावना है।

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक, इन दोनों प्रतिपक्षी नयों के विषयभूत वस्तु-अंशों की अविरोध-रूप एकता जब निज ज्ञान में की जाए, तभी सम्पूर्ण द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु की सम्यक् प्राप्ति इस जीवन में सम्भव है। द्रव्यदृष्टि में किसी भी परपदार्थ का — चाहे वह जड़ हो या चेतन — अवलम्बन लेने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु, पर्यायदृष्टि में साधक ने आत्मबल की कमी होने के कारण पर का — देव, शास्त्र, गुरु आदि धर्मसाधनों का — अवलम्बन ले रखा है। वह अपना आत्मबल बढ़ाने की चेष्टा करता है। जैसे-जैसे आत्मबल बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे परावलम्बन छूटता जाता है। जहां परावलम्बन लेना पर्यायदृष्टि का विषय है, वहीं, कालान्तर में, उससे हटकर स्वावलम्बी होना भी पर्यायदृष्टि की ही बात है। यदि कोई व्यक्ति मात्र यह समझे कि 'मैं ज्ञान-दर्शन का अखण्ड पिण्ड हूँ, पूर्ण हूँ, शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ' इत्यादि, परन्तु अपनी पर्याय में

हो रही कमियों—गलतियों को न देखे—समझे, और इस वजह से उन्हें दूर करने का उपाय भी न करे, तो आत्मकल्याण—रूपी अभीष्ट कार्य की सिद्धि कैसे हो? वस्तुतः अपनी पर्याय में हो रही पराधीनताओं को समझ कर, स्वानुभवन के द्वारा उनको क्रमशः घटाते हुए ही स्वाधीनता की ओर बढ़ा जाता है। तब, बाहर की ओर से देखने पर पराधीनता का अभाव होता दीखता है, और अंतरंग में स्वाधीनता की प्राप्ति होती दीखती है। पराधीनता का अभाव करने के लिये चरणानुयोग की उपयोगिता को स्वीकार करना ज़रूरी है। चरणानुयोग के विषयभूत आचरण का कथन जब द्रव्यदृष्टि की मुख्यता से किया जाता है तो कहा जाता है कि 'जीव की पर्याय अथवा अवस्था अमुक—अमुक प्रकार से होती है, ज्ञान तो उस अवस्था का मात्र जानने वाला है, ज्ञाता है, कर्ता नहीं है।' दूसरी ओर, इसी विषय को पर्यायदृष्टि की मुख्यता से इस प्रकार कहना भी ज़रूरी है कि 'साधक को अंतरंग आचरण अर्थात् स्वाधीनता को बढ़ाने के लिये — दूसरे शब्दों में, अपनी पर्याय की पराधीनता को दूर करने के लिये — बाह्य आचरण का अवलम्बन लेना चाहिये।' यह द्रव्यदृष्टि का ही प्रताप है कि उसके द्वारा जीव को पर्याय में होने वाली अपनी पराधीनता का सही/सम्यग् ज्ञान होता है। इसलिये, द्रव्यदृष्टि के विषयभूत वस्तु—अंश के ज्ञान के साथ—साथ यदि इस जीव को पर्यायदृष्टि की अपेक्षा अपने विकार, अपनी हीनताएं न दिखाई दें तो इसके द्रव्यदृष्टि—विषयक ज्ञान को भी सही/सम्यक् नहीं कहा जा सकता। अपनी पर्याय की हीनताओं को दूर करने के लिये, एक ओर तो जो अवलम्बन उन हीनताओं के बढ़ने में साधन हों, उनसे हटना ज़रूरी है; और, दूसरी ओर, ऐसे साधनों को अपना भी ज़रूरी है जिनके माध्यम से हीनता घटाई जा सके, हालांकि द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा तो यह जीव न साधनों को जुटाने वाला है और न ही उनसे हटने वाला है। इस प्रकार, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक, इन दोनों प्रतिपक्षी नयों के विषयों की अविरोध—रूप एकता हमें अपने जीवन में प्राप्त करनी है।

## § 9.98 उपसंहार



द्रव्य-पर्यायात्मक आत्म-वस्तु के दोनों पक्ष — वस्तु-सामान्य या द्रव्य-स्वभाव, और परिणमन — जीवन में साथ-साथ चलते हैं। आत्म-वस्तु के स्वरूप का कथन अथवा चिंतन करते हुए तो उसका कोई एक पक्ष मुख्य अथवा गौण होता है, परन्तु **जीवन में दोनों पक्ष मुख्यता अथवा गौणता से रहित, एक-साथ होते हैं।** जब जीव का रागरूप परिणमन हो रहा है तभी सम्यक् श्रद्धा वहां कह रही है कि ये रागादिक भाव मेरे स्वभाव नहीं, अपितु विकार हैं। मेरी पर्याय में दोष हैं, ऐसा ज्ञान-श्रद्धान उसी समय होता है जिस समय द्रव्यदृष्टि-विषयक सही/सम्यक् श्रद्धा रहती है। इसलिये आत्म-वस्तु के सामान्य-विशेषात्मक अथवा द्रव्य-पर्यायात्मक स्वरूप का सही प्रकार से ज्ञान करना ज़रूरी है। हमें अपने जीवन में द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टि, दोनों के विषयों को सापेक्ष लेकर चलना चाहिये और वस्तु-तत्त्व का निरूपण भी उसी प्रकार करना चाहिये।

समयसार का अध्ययन करके यदि हमने मात्र द्रव्यदृष्टि के विषय का ज्ञान-श्रद्धान किया है और उसके फलस्वरूप अपने जीवन में भी यदि हम द्रव्यदृष्टि के विषय को पर्यायदृष्टि-निरपेक्ष लेकर चलते हैं, तो हमारा ऐसा ज्ञान-श्रद्धान-आचरण हमारी आत्मा को शुद्ध बनाने में कभी भी सहायक नहीं हो सकेगा। भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य का समयसार की रचना के पीछे ऐसा उद्देश्य कदापि नहीं था।

हमारा जो सोच-विचार है, जो सूझ-बूझ है, उसका अपने जीवन में उपयोग हमें इस प्रकार करना है कि जिनवाणी के अभिप्राय को पहले तो हम स्वयं सही रूप में समझें, और फिर उसको इस प्रकार प्रस्तुत करें कि जनसाधारण भी सही रूप में समझ सकें। समयसार का अध्ययन हम यह समझ कर करें कि यह ग्रन्थ मुख्यता से अनादिकालीन पर्यायमूढ़ को सम्बोधित करने के लिये रचा गया है। इसलिये इसमें द्रव्यदृष्टि की मुख्यतापूर्वक उपदेश दिया गया है, क्योंकि द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु-स्वरूप का श्रद्धान ही सम्यक्त्व है। इस ग्रन्थ के अध्ययन से कोई ऐसा मिथ्या अभिप्राय कदापि ग्रहण न करे कि मात्र द्रव्यदृष्टि-विषयक वस्तु-अंश का श्रद्धान सम्यक्त्व है। अगले पृष्ठ पर दी गई **सारिणी** समयसार में उपदिष्ट

सम्यक्त्व-उत्पत्ति के मार्ग को संक्षेप में दर्शाती है। द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टि, दोनों के विषयभूत वस्तु-अंशों का अविरोध-रूप ज्ञान-श्रद्धान ही सम्यक् है, सत्यग्राही है, समग्र है। दीपक भी सत्य है, ज्योति भी सत्य है; दोनों मिल कर ही समग्र सत्य है।